



17. हिंदी सिनेमा का इतिहास और विकास का विश्लेषणात्मक अध्ययन
(सामाजिक सरोकारों के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. गणेश शंकर

असिस्टेंट प्रोफेसर

डिपार्टमेंट ऑफ जर्नलिज्म एंड मास कम्युनिकेशन

आईआईएमटी कॉलेज ऑफ मैनेजमेंट, ग्रेटर नोएडा, उत्तर प्रदेश

ईमेल- ganeshshankar123@gmail.com

सारांश

भारतीय सिनेमा का इतिहास कई उतार-चढ़ावों से भरा हुआ है। सौ बरस पहले, जब भारतीय सिनेमा का जन्म हुआ था, तब भारत गुलाम था। गुलाम भारत की लाचार बेबस जनता ने उस समय सोचा भी नहीं होगा कि उसे रुपहले परदे पर चलते चित्र देखने को मिल पाएँगे। सन् 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारतीय समाज के नवजागरण की शुरुआत हुई थी। साहित्य, समाज, शिक्षा, कला और पत्रकारिता आदि के क्षेत्रों में अनेक भारतीय आगे आकर आजादी पाने के लिए कार्य कर रहे थे। दूसरी ओर, भारत का अभिजात्य वर्ग, अंग्रेजी शासन के नौकरशाह और अंग्रेजों के चहेते राजा और नवाब अपने मनोरंजन के नए-नए माध्यम तलाश रहे थे। उस समय चर्चित पारसी थिएटरों को पीछे छोड़ते हुए सन् 1896 में सिनेमा का आगमन भारत में हुआ। 07 जुलाई, 1896 को बम्बई के वाटसन होटल में लुमिरे बन्धुओं ने छः मूक फिल्मों का प्रदर्शन किया। इन्हीं में से एक फिल्म, 'द लाइफ आफ द क्राइस्ट' को देखने का अवसर धुंडीराज गोविन्द फालके को मिला। महाराष्ट्र राज्य के नासिक जिले के त्रयंबकेश्वर नामक छोटे से कस्बे में 30 अप्रैल, सन् 1870 को जन्मे धुंडीराज गोविंद फालके को हम भारतीय सिनेमा के जनक 'दादासाहब फालके' के नाम से जानते हैं (सिन्हा, 2006)। इस शोध-पत्र के माध्यम से हिन्दी सिनेमा का इतिहास और विकास को उकेरने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द: हिन्दी सिनेमा, सामाजिक सरोकार, भारतीय फिल्मों, सिनेमा इतिहास

प्रस्तावना

भारतीय सिनेमा का सफर तीन मई 2013 को सौ साल पूरे कर चुका है। वर्ष 1913 में इसी दिन भारत की पहली फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' जनता को दिखाई गई थी। इस फिल्म का निर्माण सिनेमा की आधारशिला रखने वाले दादा साहब फालके ने किया था। वर्ष 1912-13 से लेकर 1930 तक 1300 से अधिक ऐसी फिल्मों का निर्माण हुआ जो कि मूक फिल्म कहलाती हैं। सन् 1931 में आर्देशिर ईरानी की 'आलम आरा' को पहली बोलती हुई फिल्म का दर्जा मिला। तब से लेकर मई 2013 तक के कालखंड में सौ साल बीत गए और आज भारतीय सिनेमा का एक भरा-पूरा समृद्ध इतिहास हमारे सामने है (अशोक मिश्र, 2013)।

भारतीय सिनेमा के महान फिल्मकार दादासाहब फालके ने अंग्रेजों के मनोरंजन की वस्तु सिनेमा को भारतीय नवजागरण की धारा के साथ जोड़ने का काम किया। उन्होंने पहली भारतीय मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का निर्माण कर भारतीय सिनेमा की नींव डाली। इस फिल्म को बनाने के लिए कामचलाऊ व्यवस्था उन्हें स्वयं ही करनी पड़ी। उन्होंने पात्रों को अभिनय करना सिखाया, दृश्य लिखे, फोटोग्राफी की और फिल्म प्रोजेक्शन भी किया। कुल मिलाकर निर्माता, निर्देशक, पटकथा लेखक, कैमरामैन और फिल्म निर्माण के अन्य सहयोगियों की जिम्मेदारी दादा साहब फालके ने ही उठाई (दीक्षित, 2010)।

यह वो दौर था, जब सिनेमा को सभ्य लोगों का काम नहीं समझा जाता था और महिलाओं को फिल्मों में काम करने की इजाजत नहीं होती थी। इस कारण फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' में सभी नायिकाएँ भी पुरुष कलाकार ही थे। 21 अप्रैल, 1913 को ओलम्पिया सिनेमा हॉल में पहली भारतीय मूक फिल्म रिलीज की गई। 03 मई, 1913 को पहली बार बम्बई के कोरोनेशन थियेटर में इसका प्रदर्शन हुआ। पूरे तेईस दिन चलकर राजा हरिश्चंद्र फिल्म ने उन दिनों रिकॉर्ड बनाया था। पहले भारतीय सिनेमा ने हिन्दुस्तानियों का मन मोह लिया था। उन दिनों भारत में विदेशी फिल्मों के अमीर दर्शकों ने ही नहीं, बल्कि समाचार-सूत्रों ने भी इसकी उपेक्षा की। लेकिन फालके की फिल्म आम जनता के लिए थी। इस कारण यह फिल्म जबरदस्त हिट रही। दादासाहब फालके ने कुल 125 फिल्में बनाईं। भारतीय फिल्मों में दादासाहब फालके के अभूतपूर्व योगदान को सम्मान देते हुए भारत सरकार ने सन् 1969 में सर्वोच्च फिल्म पुरस्कार दादासाहब फालके पुरस्कार के नाम से शुरू किया (भारद्वाज, 2009)।

अन्तर्वस्तु विश्लेषण

शुरुआती सिनेमा धार्मिक पृष्ठभूमि का था और उस पर पारसी थियेटर का गहरा प्रभाव था। जमशेद जी मदन, धीरेन गांगुली तथा नितिन बोस इस दौर के अन्य फिल्मकार थे। 'लंका दहन', 'बिलेत फेरात', 'भस्मासुर मोहिनी' और 'सावित्री' आदि इस दौर की चर्चित फिल्में थीं। इसी दौरान प्रभात फिल्म कंपनी के बैनर तले बनी वी० शांताराम की फिल्म 'फ्लैग आफ फ्रीडम (स्वराज्य ध्वज)' पहली भारतीय फिल्म थी, जिसमें अंग्रेजी शासन के खिलाफ भारतीयों का विरोध दिखाया गया था। इस फिल्म के प्रदर्शन पर अंग्रेज सरकार सख्त एतराज करते हुए रोक लगा दी और यह फिल्म 'थंडर आफ हिल्स' बन गयी। प्रभात फिल्म कंपनी के बैनर तले वी. शांताराम ने 'फाइटिंग ब्लेड (खूनी खंजर)', 'चंद्रसेना' और 'स्टोलन ब्राइड (जुल्म)' जैसी फिल्में बनायीं। उनकी ये सभी फिल्में अवाक थीं। वी. शांताराम हिंदी सिनेमा के पहले निर्माता-निर्देशक थे, जिन्होंने सन् 1930 में बच्चों के लिए 'रानी साहिबा' नाम से एक फिल्म बनाई (दिलचस्प, 2009)।

भारतीय फिल्म निर्माताओं ने आरंभिक दौर से ही अपनी फिल्मों को भारतीय समाज का आईना बनाकर गुलाम भारत में समाज सुधार की जागृति लाने का अभियान शुरू किया था। बाबूराव पेन्टर ने 1925 में पहली मूक फिल्म 'सवकारी पाश, साहूकारी फन्दा', जिसका अंग्रेजी नाम 'इंडियन शाइलॉक' था, बनाई। इस फिल्म में प्रसिद्ध निर्माता निर्देशक और अभिनेता वी० शांताराम ने मुख्य भूमिका अदा की थी। इससे भारत के गरीबों का अत्यंत वास्तविक और मार्मिक चित्रण किया गया था। फिल्म में गांव में गरीबों की ऋण ग्रस्तता, सामंती दमन और निर्धन किसानों की व्यथा-कथा का जिस कुशलता से मूक चित्रण किया गया था, वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी था। उल्लेखनीय है कि उस दौर में समाज सुधारक और स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय राजनेता भी गांव गरीब और किसानों की समस्याओं को लेकर सरकार से जूझ रहे थे। इस पहली फिल्म के बाद जितनी भी मूक और फिर सवाक फिल्में बनी, उनका

उद्देश्य केवल मनोरंजन करना ही नहीं था, अपितु तत्कालीन समाज को उसकी गतिविधियों का आईना दिखाना और हताश, निराश, दीनदुखी और कुण्ठाग्रस्त समाज को सुधार के लिए जागृत करना भी था (दीक्षित, 2010)।

सन् 1931 में आई फिल्म 'आलमआरा' भारत की पहली फिल्म थी, जिसमें आवाज भी थी और गाने भी थे। कोलकाता की मदन टॉकीज के बैनर तले अर्देशिर ईरानी के निर्देशन में बनी नायक राजकुमार और बंजारन नायिका की प्रेम कहानी 'आलमआरा' पारसी थियेटर की मेलोड्रामा शैली से प्रभावित थी। इसमें सात गीत थे और यहीं से हिन्दी सिनेमा और गीतों का ऐसा अटूट रिश्ता जुड़ा, जो आज तक कायम है। बोलती फिल्मों का युग आया, तो वी० शांताराम की फिल्मों का भी नया दौर आया। सन् 1932 में उनकी पहली बोलती फिल्म 'अयोध्या का राजा आई' इस दौरान सामाजिक मुद्दे सिनेमा में आने लगे थे। भारत के बड़े व्यवसाय के रूप में विकसित होने के कारण सिनेमा जगत को मायानगरी का नाम भी दिया गया। चित्रकार परिवार से आए बाबूराव पेंटर, धीरेन गांगुली और चंदूलाल शाह इस दौर के बड़े फिल्मकार हुए। 'माया मच्छिंद्रा, महारथी कर्ण, नल दमयन्ती और चन्द्रसेना' आदि इस दौर की चर्चित फिल्में थीं। ये फिल्में राष्ट्रीय एकता और हिंदी के विस्तार में सहयोगी बनने लगीं। इसी दौर में हिंदी सिनेमा ने अपना नया सफर शुरू किया (अग्रवाल, 1995)।

सन् 1933 से 1942 के दशक को भारतीय सिनेमा के स्टूडियो युग के रूप में जाना जाता है। वीरेन्द्रनाथ सरकार द्वारा स्थापित न्यू थियेटर्स, वी० शांताराम, वी०जी० दामले, एम० फत्तेलाल, के०आइ० धायबर और एस०बी० कुलकर्णी द्वारा स्थापित प्रभात स्टूडियो, वी० शांताराम द्वारा स्थापित राजकमल कलामंदिर तथा हिमांशु राय के बॉम्बे टाकीज ने दर्शकों के सभी वर्गों को ध्यान में रखकर, सामाजिक अन्याय के विरोध को प्रदर्शित करते हुए कई यादगार और मनोरंजक फिल्में दीं। न्यू थियेटर्स से जुड़े प्रथमेशचन्द्र बरुआ ने सन् 1935 में शरतचन्द्र के उपन्यास पर 'देवदास' फिल्म बनाकर भारतीय सिनेमा के साथ प्रेमकथाओं को जोड़ा। कुंदनलाल सहगल ने नायक और गायक, दोनों ही भूमिकाएँ निभाकर सिनेमा जगत में नए दौर की शुरुआत की। देविका रानी इस दौर की प्रसिद्ध नायिका थीं। सिनेमा जगत में उनके आने के साथ ही भारतीय फिल्मों में नायिकाओं के आगमन की शुरुआत हुई। फिल्म जीवन नैया के नायक के बीमार हो जाने पर बांबे टाकीज के प्रतिभाशाली लैब असिस्टेंट कुमुद कुमार गांगुली उर्फ अशोक कुमार उर्फ दादामुनि को हिमांशु राय ने अवसर दिया और इस तरह वे सिनेमा में आए। मारधाड़ वाली स्टंट फिल्मों में सर्वाधिक प्रसिद्ध और सबसे पहली फिल्म 'हंटरवाली' थी। वर्ष 1935 में बनी इस फिल्म ने समाज में पोशाक और पहनावे का नया चलन शुरू किया। इस फिल्म में अत्याचारी वज़ीर के जुल्मों और उससे निपटने को उठ खड़ी हुई एक औरत की कहानी थी। इस कहानी में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ भारतीय जनता के आजादी के आन्दोलन की झलक दिखाई पड़ती थी (राहुल मिश्र, 2013)।

अर्देशिर ईरानी के निर्देशन में सन् 1932 में बनी मूक फिल्म 'नूरजहाँ' पहली ऐतिहासिक फिल्म थी। इसके बाद सोहराब मोदी की फिल्मों, पुकार और सिकन्दर से बोलती हुई ऐतिहासिक फिल्मों की शुरुआत हुई। महबूब खान ने 1940 में 'वो औरत' फिल्म बनाई जिसकी प्रेरणा से आगे चलकर हिन्दी सिनेमा की सबसे महान और चर्चित फिल्म 'मदर इंडिया' बनी। भारतीय सिनेमा देश की गुलामी के दौर में अपने सामाजिक दायित्व को निभाते हुए धार्मिक कथाओं का दामन छोड़कर अब सामाजिक मुद्दों का रुख करने लगा था। समाज को नई चेतना और संदेश देने के लिए फिल्मी मनोरंजन को माध्यम बनाने वाले और फिल्मों के निर्माण में नए-नए प्रयोग करने वाले वी० शांताराम इस दौर के सबसे प्रतिभाशाली फिल्मकार थे। उन्होंने 'चंद्रसेना' फिल्म में पहली बार ट्रॉली का प्रयोग

किया। उन्होंने 1933 में पहली रंगीन फिल्म 'सैरंघ्री' बनाई। वर्ष 1935 में प्रदर्शित हुई फिल्म जंबूकाका में एनिमेशन का इस्तेमाल करके वे भारत में एनिमेशन का इस्तेमाल करने वाले पहले फिल्मकार बन गए थे। उनकी फिल्म 'डॉक्टर कोटनिस की अमर कहानी' विदेश में दिखाई जाने वाली पहली भारतीय फिल्म थी (अशोक मिश्र, 2013)। सन् 1943 से 1952 में अशोक कुमार बड़े नायक बनकर उभरे। उन्होंने इस दौर में हुमायूँ, किस्मत और महल जैसी यादगार फिल्में दीं। सन् 1947 में हिन्दोस्तान की आजादी और बँटवारे जैसी बड़ी घटनाएं हुईं। लेकिन उस दौर के सिनेमा में इनका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। सन् 1947 में जुगनू की सफलता के साथ दिलीप कुमार सिनेमा में आए और सन् 1948 में 'आग' के साथ राज कपूर चार्ली चैपलिन के भारतीय संस्करण के साथ हिंदी फिल्मों में आए। सन् 1949 में महबूब खान ने इन दोनों सितारों को लेकर अन्दाज बनाई। सन् 1949 में राजकपूर की फिल्म बरसात ने तहलका मचा दिया। सन् 1951 में रिलीज हुई आवारा फिल्म के गीतों की लोकप्रियता रूस तक पहुंची। शैलेन्द्र के लिखे और मुकेश के गाए गीतों ने भारत द्वारा देखे गए समाजवाद के स्वप्न को हिंदी सिनेमा का स्वप्न भी बना दिया। इस फिल्म के बाद राज कपूर ने आर०के० फिल्स स्टूडियो स्थापित करके निर्देशन प्रारंभ किया और देश-विदेश में प्रसिद्ध हुए (सिन्हा, 2006)।

भारतीय सिनेमा के लिए 1950 का दशक आदर्श दौर है जब फिल्मकारों के दिमाग में देश और समाज के प्रति चिंतन हावी हुआ। इस दौर का भारतीय सिनेमा उपनिवेशवादी अतीत से निकलकर आजाद भारत के नेताओं को अपने साथ जोड़ रहा था और आजाद भारत की अनेक समस्याओं को अपने साथ लेकर उनके समाधान देने की कोशिश भी कर रहा था। 1955 में राजकपूर की फिल्म श्री 420 में नायक अमीर होने के लिए गलत राह पर चल पड़ता है, लेकिन अभिनेत्री अपने आदर्श से जरा भी नहीं डिगती और अंततः नायक भी आदर्श की ओर लौट आता है। इस दौर की फिल्मों में आदर्श की जीत बहुत आम परिघटना थी। गलत से गलत व्यक्ति भी आदर्श की ओर लौट आता था या जो नहीं लौटता था, वह मारा जाता था। इसी दौर में शंभु मित्रा की जागते रहो जैसी शानदार फिल्म आई, जिसमें यह दिखाया गया कि अमीर होने के लिए लोग क्या-क्या करते हैं और एक ईमानदार गरीब आदमी पानी के लिए भी तरस जाता है। वह पानी भी पीता है, तो उसे चोर कहा जाता है। इस फिल्म का गरीब नायक खड़े होकर पूरे समाज को आईना दिखा देता है (पारख, 2001)।

सन् 1953 से 1962 के दशक में देवानंद के नवनिर्मित नवकेतन स्टूडियो से निकली फिल्मों में शहरी आधुनिकता का मोह था तो राजकपूर की जिस देश में गंगा बहती है और दिलीप कुमार की नया दौर जैसी फिल्में आधुनिकता का स्वप्न गाँव देहातों तक पहुंचा रहीं थीं। इसी दशक में फिल्म निर्माता बिमल रॉय की फिल्म दो बीघा जमीन ने देश के किसानों की दयनीय दशा दर्शायी। इस फिल्म में शंभू महतो बने देवानंद कलकत्ता की तपती सड़कों पर नंगे पैर रिक्शागाड़ी खींचते हुए शहर की यंत्रणाओं और सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था के गठजोड़ को हमारे सामने लाते हैं। वी० शांताराम की सर्वाधिक चर्चित फिल्म दो आँखे बारह हाथ सन् 1957 में प्रदर्शित हुई। यह एक साहसिक जेलर की कहानी है जो छह कैदियों को सुधारता है। इसी वर्ष महबूब खान की फिल्म 'मदर इंडिया में दुनिया ने भारत के समतावादी समाज का स्वप्न देखा। फिल्म में एक स्त्री के स्वाभिमान के माध्यम से भारतवर्ष की उन्नति को बताया गया। इसी दशक में सत्यजीत राय ने अपनी पत्नी के जेवर गिरवी रखकर कर्ज से पाथेर पांचाली' बनाई। इस दशक में नदिया के पार बंदिनी, सुजाता, बदनाम बस्ती, तीसरी कसम, एक बार फिर और जागते रहों जैसी यादगार फिल्में आईं, जो स्वस्थ मनोरंजन के साथ उद्देश्यपूर्ण सामाजिक मुद्दों को भी उठा रही थीं। इसी दशक में

रिलीज हुई फिल्म मुगले-आजम में निर्देशक आसिफ ने जबरदस्त शूटिंग सेट तैयार किए। दिलीप कुमार के जबरदस्त अभिनय और मधुबाला की सुंदरता ने फिल्म को यादगार बना दिया। इस फिल्म को जबरदस्त मुनाफा हुआ और यह फिल्म हिंदी सिनेमा जगत में मील का पत्थर बन गई। इसी दशक में सोवियत संघ के सहयोग से बर्नी गुरुदत्त की फिल्में 'प्यासा, कागज के फूल', 'साहब बीवी और गुलाम भी चर्चित रहीं। सन् 1958 में रिलीज हुई हास्य फिल्म चलती का नाम गाड़ी में तीन कुमार भाइयों-अशोक कुमार, किशोर कुमार और अनूप कुमार ने अपने जलवे बिखेरे (दीक्षित, 2013)। साठ के दशक में सायरा बानो और आशा पारेख जैसी अदाकाराओं के जलवे फिल्मों में देखने को मिले। जंगली में शम्मी कपूर की याहू पर्सनललिटी ने नई पीढ़ी को परंपराओं की जकड़ से आजाद कर दिया था। इस दौर की फिल्मों में यथार्थ से पलायन, मोहभंग और असंतोष के शुरुआती चिह्न दिखने लगे थे। सन् 1964 में आई चेतन आनंद की हकीकत युद्ध का एकाकीपन साथ लाई तो मनोज कुमार की फिल्मों शहीद, उपकार, पूरख और पश्चिम में राष्ट्रीयता की भावना के विविध रंग दिखे।

सत्तर के दशक में एंग्री यंगमैन की भूमिका में अमिताभ बच्चन का पदार्पण हुआ और यहीं से फिल्मों को गोल्डेन जुबली और डायमंड जुबली का खिताब मिलना भी शुरू हुआ। एंग्री यंगमैन को रुपहले परदे पर उतारने वाली सलीम जावेद की जोड़ी ने भी फिल्म जगत में अपने पैर जमाने के लिए बहुत संघर्ष किया था। सलीम जावेद ने सत्तालोलुप और भ्रष्ट समाज के प्रति आम इंसान के विद्रोह को सिनेमा में जीवंत कर दिया और उनका एंग्री यंगमैन अमिताभ बच्चन हिन्दी सिनेमा में सदी के महानायक बना। इस दशक का रोमांस भी एकदम अलग किस्म का था। लैप बुझाती जया भादुड़ी और माउथ ऑर्गन बजाते अमिताभ का अधूरा प्रेम लोगों को रोमांचित कर देता था। रमेश सिप्पी की मल्टीस्टार फिल्म शोले' सन् 1975 में रिलीज हुई। स्पेक्टाक्युलर हिट फिल्म दीवार, राजकपूर की बाबी के साथ ही जंजीर, खूनपसीना, कभी-कभी, अमर अकबर एन्थनी, मुकद्दर का सिकन्दर और भूमिका आदि इस दौर की चर्चित फिल्में थीं। कमाल अमरोही की फिल्म पाकीजा हिंदी फिल्मों में मील का पत्थर बनकर आई (अग्रवाल, 1995)।

डाकुओं के आतंक, मारधाड़, एक्शन और रोमांस से भरपूर इस दशक की फिल्मों के साथ श्याम बेनेगल की फिल्म 'अंकुर' ने समांतर सिनेमा का नया दौर शुरू किया, जिसमें नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी और अनुपम खेर जैसे आर्ट कलाकार परदे पर आए। श्याम बेनेगल हिंदी फिल्मों के प्रमुख निर्देशक के तौर पर उभरे। श्याम बेनेगल के अतिरिक्त गोविन्द निहलानी की 'आक्रोश', सईद मिर्जा की 'अलबर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है और 'अजीब दास्तां, मुजफ्फर अली की 'गमन' आदि आर्ट फिल्में थीं, जिन्हें दर्शकों ने पसंद किया। मगर मनोरंजन पसंद दर्शकों को ऐसी फिल्में पसंद नहीं आई और गुलज़ार, बासु चटर्जी, ऋषिदा की फिल्में आम दर्शकों की पसंद पर खरी उतरती रहीं (भारद्वाज, 2009)। राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष पर आधारित अनेक फिल्में बनीं और जनता के बीच लोकप्रिय भी हुईं। पहले लोकप्रिय कथाओं, इतिहास प्रसंगों पर आधारित फिल्में बनाई गईं, जिनके माध्यम से स्वतंत्रता आंदोलन को जनसमर्थन दिलाने की सफल कोशिश की गई। फिर समकालीन स्वतंत्रता आंदोलन के वास्तविक तथ्यों को काल्पनिक कथानक का रूप देकर सीधे सीधे फिल्में बनाई जाने लगीं। इन फिल्मों में कहानी के अलावा गीत भी प्रेरणादायी होते थे। सोद्देश्य शिक्षाप्रद मनोरंजन पर आधारित हमारी फिल्मों ने राष्ट्रीय एकता, सामाजिक सुधार और नये विचारों के प्रति जागृति पैदा करने में अहम भूमिका अदा की है। युग के साथ बदलती परिस्थितियाँ और जन्म लेती नई-नई समस्याओं के प्रति भी

हमारी फिल्मों में जागरूक रही हैं और उन्होंने अपनी हस्तक्षेपकारी भूमिका अदा की है। समाज में ऊंच-नीच के भेदभाव, छुआछूत, अंतरजातीय विवाह, दहेज प्रथा, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, शहरीकरण के प्रति बढ़ते मोह, महानगरों की समस्या, गरीबी, बेरोजगारी, युवा असंतोष, औद्योगीकरण, मालिक मजदूर टकराव, मशीनीकरण से पैदा हुई बेरोजगारी, जैसी अनेक समस्याओं पर अच्छी और सफल फिल्में बनीं, जिन्हें लोकप्रियता भी हासिल हुई। अपराधियों पर बनी फिल्मों में भी सोदेश्य हुआ करती थी। ज्यादातर फिल्मों में अपराधियों के सुधार और अपराधियों में छिपे मानवीय गुणों को उजागर करने, जेल के बंदियों में सुधार, डाकुओं के आत्मसमर्पण जैसे विषयों पर अनेक लोकप्रिय फिल्में बनीं।

निष्कर्ष

सिनेमा की पूरी यात्रा पर नजर डालें तो साफ पता चलता है कि हर दशक के साथ न सिर्फ सिनेमा का रूप स्वरूप बदलता रहा है बल्कि तेवर और सरोकार भी बदलते रहे हैं। सिनेमा की शुरुआत में फिल्मों के निर्माण पर कम पूंजी और अधिक समय लगता था। आगे चलकर जब तकनीकी स्तर पर हिंदी सिनेमा मजबूत हुआ तो फिल्मों में साल दो साल के बजाय फटाफट वाली रफ्तार से बनने लगीं। यहीं से फिल्म उद्योग पर पूंजी का वर्चस्व इतना अधिक बढ़ा कि उसने कंटेंट और सामाजिक सरोकारों को बहुत पीछे ढकेल दिया। यही वजह है कि आज की फिल्मों में हमें उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड या छत्तीसगढ़ के गांवों के भारत की तस्वीर कम दिखती है जबकि मेट्रो शहरों मुंबई या गोवा की चमक-दमक, शापिंग मॉल और मल्टीप्लेक्स अधिक दिखता है। हालांकि कुछ फिल्मकारों ने प्रतिरोध के सिनेमा या सामाजिक सवालों की धारा को अपनी फिल्मों के माध्यम से बरकरार रखा है। कभी-कभार हल्ला बोल' जैसी सार्थक फिल्में भी आती हैं जिनसे उम्मीद बनती है कि सब कुछ अभी बदला नहीं है। सार्थकता की उम्मीद नए आने वाले युवा फिल्म निर्माताओं से अभी बाकी है, जिन्होंने नई-नई शुरुआत की है।

सन्दर्भ :

- अग्रवाल, विजय (1995), सिनेमा और समाज, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली.
- अग्रवाल, विजय (2001), आज का सिनेमा, नीलकंठ प्रकाशन, नई दिल्ली.
- अरोड़ा, सुधा (2013), कला सिनेमा में कितना सामाजिक सरोकार, अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक, अंक-39, अक्टूबर-दिसंबर.
- जोशी, रामशरण (2013). सामाजिक राजनीतिक यथार्थ और सिनेमा, अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक, अंक-39, अक्टूबर-दिसंबर
- दास, विनोद (2003), भारतीय सिनेमा का अन्तःकरण, मेधा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण.
- दिलचस्प (2009), हिन्दी सिनेमा के 100 वर्ष, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली.
- पारख, जवरीमल्ल (2001), लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, अनामिका पब्लिकेशन्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा०लि०, नई दिल्ली.

- पारख, जवरीमल्ल (2006), हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, श्यामबिहारी राय ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण.
- ब्रह्मात्मज, अजय (2011), सिनेमा की सोच, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- भारद्वाज, विनोद (2009), सिनेमा, कल, आज, कल, वाणी प्रकाशन दिल्ली.
- मिश्र, राहुल (2013), हिन्दी सिनेमा के सौ वर्ष, रेडियो वार्ता, 24 मई, प्रातः 07:30, आकाशवाणी, लेह.
- मिश्र, अशोक (2013), सामाजिक सरोकारों से हटता सिनेमा, बहुवचन, अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक, अंक-39, अक्टूबर-दिसंबर
- रंगूनवाला, फिरोज (2009), इंडियन सिनेमा, क्लोरियन बुक्स, नई दिल्ली
- वासवानी, किशोर (2013), सिनेमा में प्रतिरोध का स्वरूप, बहुवचन, अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक, अंक-39, अक्टूबर-दिसंबर
- सिन्हा, प्रसून (2006), भारतीय सिनेमा एक अनन्त यात्रा, श्रीनटराज प्रकाशन, दिल्ली.
- विप्लव, विनोद (2013), हिंदी सिनेमा कल, आज और कल, अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक, अंक-39, अक्टूबर-दिसम्बर.